अज्ञात के नए आयाम
भगवान रजनीश

भगवान श्री रजनीश

संकलन

अरविन्द कुमार

युक्रांद प्रकाशन, जबलपुर

प्रकाशक :
युक्रांद प्रकाशन,
७६०, राइट-टाउन,
जबलपुर

•

कापीराइट :
जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई

•

प्रथम मुद्रण :
जुलाई, १९७३

•

मूल्य :
~~५० पैसे~~ १ रु.

•

मुद्रक :
अशोप प्रिन्टर्स,
७८१, राइट-टाउन,
जबलपुर (म. प्र.)

प्रश्न : नयी कला (माडर्न आर्ट) बिल्कुल ही अजूबा हो गई है । इसमें कलाकार क्या अभिव्यक्त करना चाहता है ?

भगवान श्री :

असल में अगर ठीक से हम देखें तो सारी कलाएं जैसे-जैसे सत्य को बताने की दिशा में आगे बढ़ेंगी वैसे-वैसे सत्य को बताने में तो समर्थ न होंगी, जो कुछ बता पा रहीं थीं उसको भी बताने में असमर्थ हो जायेंगी । वैसे हुआ है, हो रहा है । नयी मूर्ति है या नयी पेंटिंग है या नयी कविता या नया संगीत है, चेष्टा है इस बात की वह जो फार्म बाधा डालता है, वह जो आकार और वह आकृति और वह जो मीडियम बाधा डालता है, उससे हम मुक्त होकर के इतना 'ट्रांसपरेंट' हो सकें कि वह बाधा न डाले, बल्कि मार्ग बन जाय । लेकिन परिणाम क्या होता है ? परिणाम यह होता है कि वह बाधा डालता है । अगर उससे हम मुक्त होने की कोशिश करते हैं तो हम मुक्त तो हो जाते हैं, लेकिन तब वह 'ट्रांसपरेंसी' ही रह जाती है, उससे कुछ आगे आरपार कुछ दिखायी नहीं पड़ता; क्योंकि वह जो दिखायी पड़ता था वह आकार ही था । मैं इस तरह के शब्दों का उपयोग कर सकता हूं जो बाधा न डालें मगर वे सब शब्द अर्थहीन होंगे, 'ओम' जैसे शब्द होंगे,

उनका कोई मतलब नहीं है। हमने बहुत पहले इसका प्रयोग किया था इसीलिए कि यह अर्थहीन है। इसका उपयोग करो, क्योंकि जितने अर्थहीन शब्द हैं सब उपयोग में आकर झंझट में डाल देते हैं और फिर उनसे झंझट नहीं सुलझती। अब यह ओम् है, इसका उच्चारण कर दो, इसका कोई अर्थ नहीं है, इससे कुछ इंगित नहीं होता और इससे हम यह इंगित कर रहे हैं कि कुछ है, जो शब्दों के बाहर है उसके लिए हमने यह शब्द चुना, लेकिन उससे भी क्या फर्क पड़ता है, कितने ही ओम् कहते रहो उससे भी कुछ फर्क नहीं पड़ता; उसका भी इंगित कहीं नहीं हो पाता।

प्रश्न : लेकिन वह मंत्रशास्त्री कहेंगे कि इसका कोई और कारण है उपयोग का?

भगवान श्री :

वह मंत्रशास्त्री से बात करनी चाहिए। मैं तो यहां यह कह रहा हूं कि नयी कलाएं इस तरह के उपयोग कर रही हैं जो 'एबसर्ड' हैं। इस तरह की मूर्तियाँ बन रही हैं जिनको आप किसी की मूर्ति नहीं कह सकते। अगर आदमी की मूर्ति बनानी है तो ऐसी ही बनानी पड़ेगी कि उसमें किसी का चेहरा न आये, क्योंकि किसी का भी आ जायगा तो वह किसी का हो जायगा। आदमी का नहीं रह जायगा। अब आदमी की अगर मूर्ति बनानी है तो उसमें मेरा चेहरा नहीं होना चाहिए, आपका चेहरा नहीं होना चाहिए, उसमें किसी का चेहरा नहीं होना चाहिए। उसमें कोई 'पर्टीकुलर' चेहरा हुआ कि वह किसी आदमी का हो जायगा, आदमियत का न रह जायगा। तो हम एक ऐसी मूर्ति बनायें, जिसमें किसी का चेहरा न हो। बन जायेगी ऐसी मूर्ति, लेकिन हम सोचते थे कि वह आदमियत की बन जायगी, लेकिन वह एक आदमी की भी न रह जायगी। जो मैं कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि आदमियत की तो बनेगी नहीं, वह जो एक आदमी की बन सकती थी वह भी नहीं बनेगी अब, अब वहां से भी विदा हो जायगी, वह 'फेसलेस' हो जायेगी। आदमियत की बनाने में सिर्फ चेहरा खो जायगा और ऐसे ही हुआ है, **इसलिए नयी कला के सारे के सारे प्रयोग 'फेसलेसनेस' की तरफ हैं। सब चेहरे खो गये हैं वहाँ और सब हमारी समझ के बाहर हो गया। और जो लोग कहते हैं कि हमारी समझ में आ रहा है, वे या तो फैशन की वजह से कहते हैं या इस वजह से कहते हैं कि वे नहीं तो बुद्धिहीन मालूम पड़ेंगे।** बाकी नयी कला के सारे आयाम, सारे 'डाइमेंशंस' ऐसे हैं कि वे आपको समझ में नहीं आ रहे हैं, न आना चाहिए। कोशिश यह है कि समझ में

आ गये, तो अर्थ पकड़ में आ गया आपके और अर्थ अगर पकड़ में आ गया आपके, तो आकार पकड़ में आ गया, फार्म हो गया, बात खत्म हो गयी। नहीं, जो समझ में नहीं आ रहा है, यही तो सारी चेष्टा है कि समझ में आपके न आ जाय, लेकिन **समझ में आने वाले शब्द से भी नहीं बता पाते थे, ना समझ में आने वाले शब्द से क्या बता पायेंगे?** यानी मैं यह कह रहा हूं कि जब समझ में आने वाला शब्द ही नहीं बता पाता तो समझ में न आने वाला शब्द भी नहीं बता पायेगा। इसका मेरा मतलब क्या है? मेरा मतलब यह है कि यदि हमें बुद्धि की पूरी की पूरी असमर्थता का बोध हो जाय, उसमें जरा भी आशा नहीं रह जाय। 'होपिंग अगेंस्ट होप' चल रही है, बहुत दिनों से वह चलती जाती है। कुछ लोग छिटक जाते हैं रास्ते के किनारे और वह कह देते हैं होपलेस हो गया मामला, उनकी बात अलग है। लेकिन आमतौर से हम आशा बांधे चले जाते हैं कि कोई रास्ता खोज लेंगे। अगर कालिदास नहीं खोज पाये तो इजरा खोज लेंगे। अगर हमारे मूर्तिकार पुराने नहीं खोज पाये, तो पिकासो खोज लेगा। **हम कोशिश में लगे हैं कि कोई न कोई रास्ता खोज लेंगे कि जो न कहे जाने जैसा वह है, वह हम कह देंगे।** मैं यह कह रहा हूं कि जिस दिन किसी व्यक्ति को यह समझ में आ जाता है कि यह मामला 'एज सच एब्सर्ड' है, यानी यह सवाल नहीं है कि हम और किसी तरकीब से कह देंगे, सवाल यह है कि कहा ही नहीं जा सकता। यह सवाल नहीं है कि हम कोई और अच्छे शब्द खोज लेंगे, अच्छी आकृति, अच्छी कविता, अच्छी पेंटिंग। नहीं, यह सवाल नहीं है। जो है वह कहा जाने योग्य भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि आज तक नहीं कहा गया, आगे कहा जा सकेगा। नहीं, वह कहा ही नहीं जा सकता। वह जो 'रियलिटी' जिसको आप कह रहे हैं वह कही नहीं जा सकती। तब इसका मतलब यह है कि वह सिर्फ जानी जा सकती है और तब जानने और कहने के फर्क और फासले को समझ लेना उपयोगी होगा। वह जो नहीं कहा जा सकता वह भी माना जा सकता है। हमारी **क्या तकलीफ है कि हम यह कोशिश में लगे हैं कि जो जाना जा सकता है वह कहा भी जाना चाहिए।** हमारी जो सारी तकलीफ है वह इसी वजह से है। जैसे बुद्ध कहते हैं, मैंने जाना निर्वाण। तो हम यह पूछते हैं कि कहो, क्या है निर्वाण? एक आदमी कहता है, मैंने ईश्वर को जाना, तो हम यह पूछते हैं कि बोलो फिर क्या है ईश्वर? अगर वह नहीं बोल पाता तो हम हंसते हैं, हम कहते हैं, फिर

जाना ही नहीं होगा, क्योंकि अगर जाना हो तो बोलो और अगर नहीं बोल सकते हो, तो स्वीकार कर लो कि नहीं जाना, क्योंकि जो जाना गया है वह बोला क्यों नहीं जा सकता है।

मैं यह कह रहा हूं, यह बात जरूर सच है। एक मानवीय जरूरत है, एक बुनियादी जरूरत है कि जो हमने जाना है वह हम कहना चाहते हैं, क्योंकि जो हमने जाना है उसमें हम दूसरे को साझीदार बनाना चाहते हैं। अगर मैं घर के पीछे गया और वहां एक फूल खिला देखा है, जिससे मैं नाचने लगा और आनंदित हो गया, तो मैं लौटकर मित्रों से कह देना चाहता हूं कि पीछे एक फूल खिला है वह बहुत आनंदकर है यानी आनंद का एक हिस्सा बांटना भी है। दुख का एक हिस्सा न बांटना भी है। अगर मैं दुखी हूं तो चाहूंगा कोई न आये। दुख सिकोड़ देता है और अगर मैं आनंदित हुआ हूं तो मैं बांट देना चाहता हूं, फैल जाना चाहता हूं और दस लोगों को खबर कर देना चाहता हूं। बिल्कुल स्वाभाविक है कि जो आदमी जाने वह उसे कहने जाय, वह उसकी एक 'बेसिक' जरूरत है, लेकिन हमारी सब जरूरतें जरूरी नहीं हैं कि पूरी हों। हमारी बुनियादी जरूरतें भी पूरी हों यह भी जरूरी नहीं है। हम जानते हैं और हम कहना भी चाहते हैं और कहने की कोशिश में हम 'सिम्बल्स' भी खोजते हैं, क्योंकि बिना उसके तो कोई उपाय नहीं कहने का। हम सिम्बल्स खोजते हैं। प्रतीक जो है वह हमारी चेष्टा है उसको बताने की, जो हमने जाना, लेकिन हमारी चेष्टा सफल नहीं हो पाती। कला असफल है, काव्य असफल है, मूर्ति असफल है, सब असफल है और जितना बड़ा मूर्तिकार होगा उतनी बड़ी असफलता अनुभव करेगा और जितना बड़ा कवि होगा उतना असफलता अनुभव करेगा और जितना बड़ा संत होगा उतना असफलता अनुभव करेगा। छोटा होगा तो उतनी असफलता अनुभव नहीं करेगा। अगर उधार अनुभव को दोहराना है तो बराबर शब्द कह सकते हैं; लेकिन आपका ही अगर अनुभव हुआ है तो आप पहली दफा पायेंगे कि कोई शब्द ही नहीं है, क्योंकि वह अनुभव आपका है और आप पहली दफा हुए हैं जमीन पर और कोई शब्द नहीं है, क्योंकि आप जैसा अनुभव किसी को कभी नहीं हुआ है। हां, अगर कोई उधार अनुभव हुआ है कि अगर स्त्री के चेहरे में आपको भी चांद दिखा है, तो कालिदास से लेकर सब उसको कहते रहे हैं चांद देखने को। आप भी एक कविता बना सकते हैं, जिसमें स्त्री के चेहरे में चांद दिख जाय, लेकिन वह अनुभव बहुत अधूरा, बासा और 'सैकेण्ड हैण्ड' है। हजार हाथ से गुजरा

हुआ अनुभव है। आप कह पाते हैं और दूसरा भी समझ पाता है, क्योंकि वह सबका अनुभव है। लेकिन जितना अनुभव निजी होता जायगा और जितना गहरा होगा उतना निजी होगा। और परमात्मा का अनुभव चूंकि आत्यंतिक चरम अनुभव है, उससे गहरा कोई अनुभव नहीं है। वह नितांत निजी है, यानी वह पहली दफा आपको ही हो रहा है आपके जैसा, वैसा पहले कभी किसी को नहीं हुआ। उस गहराई में आप कोई शब्द नहीं पाते हैं और कोई सिम्बल नहीं पाते हैं, बनाने की कोशिश करते हैं। जब आप बनाने की कोशिश करते हैं तभी उपद्रव शुरू होता है, क्योंकि आप कहते हैं, समझा कुछ जाता है, आप बताते कुछ हैं और सुना कुछ जाता है और तब एक उपद्रव शुरू हो जाता है जो हजारों साल तक चलता है। जैसे कृष्ण की गीता है। अभी टीका चल रही है। उसका मतलब यह है कि जो उन्होंने कहा था वह अभी तक नहीं समझा गया। टीका की अब कोई जरूरत नहीं है। सैकड़ों-हजारों टीकाएं लिखी गयीं हैं और अभी टीकाएं लोग लिखे चले जा रहे हैं, यानी मामला यह है कि वे बेचारे महापुरुष जो बोले थे वह अभी तक उपद्रव में पड़ा है कि वे क्या बोले थे। इस पर टीका चल रही है कि वे यह बोले थे।

गांधी कहते थे, वे यह बोले; तिलक कहते, वे यह बोले; विनोबा यह कहते हैं। हजारों लोग बता रहे हैं कि वे क्या बोले थे। और मजा यह है कि जब वे बोले और हम नहीं समझ पाये, तो विनोबा या गांधी या तिलक के कहने से हम क्या समझेंगे? और उन पर टीकाएँ चलेंगी कि तिलक बोले, उसका क्या मतलब है; और इसका कोई अन्त नहीं है। फिर भी शब्द से ज्यादा गहराई में दूसरे 'सिम्बल' पहुंचते हैं। जैसे, हो सकता है कि मैं शब्द में आपसे एक बात न कह पाऊं, लेकिन मैं उठूं और आपको गले से लगा लूं। और कोई बात कह नहीं सकता क्योंकि शरीर जो है, स्पर्श जो है वह शब्द से बहुत पुराना है। शब्द बहुत बाद की चीज है और मेरे शब्द और आपके शब्द अलग हो सकते हैं; लेकिन मेरे शरीर का स्पर्श और आपके शरीर का स्पर्श अलग नहीं हो सकता है। यह हो सकता है कि जो मैं शब्द में न कह सकूं और उठाऊं एक तंबूरा और नाचने लगूं और यह कहना चाहूं कि मैं बहुत खुश हूं और न कह पाऊं, क्योंकि आप पूछें कि खुशी यानी क्या? खुशी कैसी है आपको? तो शायद मैं नाचूं और मेरे नाचने से आपको खुशी की एक झलक मिल जाय, लेकिन फिर भी ये 'सिम्बल्स' ही हैं, फिर भी वह नहीं कह पाता हूं जो मैं कहना चाह

रहा हूं। मैं जब थक जाऊंगा और आपकी तरफ देखूंगा और आपकी ताली सुनूंगा, तो मैं समझूंगा कि आप कुछ समझे। मेरे बाह्य आयाम का थोड़ा-सा फल हुआ। लेकिन, जो मैं कहना चाहता था वह नहीं पहुंचा। मैं शायद उदास चला जाऊंगा, वह नहीं पहुंचाया जा सका, वह जो कहना था। नाच से भी, कला से भी, चित्र से भी कुछ कहने की कोशिश की गयी है, सब तरफ कोशिश की गयी है। मैं यह कह रहा हूं कि 'सिम्बल' से कहने की तो कोशिश की गयी है, लेकिन 'सिम्बल' असफल हो गये हैं यह हमें पूरा अब तक बोध नहीं हो पाया और सब 'सिम्बल' असफल हो गये हैं और मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सिर्फ असफल ये सिम्बल हो गये हैं। मैं यह कहता हूं, सिम्बल असफल होने को बाध्य हैं। उसका कारण यह है कि 'सिम्बल रियलिटी' (प्रतीक वास्तविकता) तो नहीं है, कुछ और है। मैंने एक सूरज को ऊगते देखा सुबह और एक आनन्द से भर गया। फिर मैंने एक चित्र बनाया, कुछ रेखाएं खींची और एक सूरज बनाया। एक पेंटिंग बनाकर लाकर आपको दिखायी और आपसे कहा कि बड़ा ही आनन्द आया। आपने देखा, आपने कहा ठीक है और रख दी, क्योंकि आखिर रेखाएं, रेखाएं हैं; सूरज नहीं है और रंग, रंग हैं सूरज के रंग नहीं हैं और मैंने कितनी ही कोशिश की, तब भी एक छोटे से कागज पर मैंने जो खींच लिया है वह हजार मील दूर की ध्वनि है। वह, वह बात नहीं है जो वहां थी। कितना ही सफल हो जाय सिम्बल वह रियल्टी तो नहीं बनता। वह सूरज नहीं बन जायगा। यानी सिम्बल इसलिए असफल होने को बाध्य है कि उसकी पेंटिंग कभी भी सूरज नहीं बन पायेगी, वह सूरज नहीं बन सकती। हां, लेकिन एक खतरा है सिम्बल के साथ और वह खतरा भी काफी काम का है। वह खतरा यह है कि हो सकता है आप कभी घर के बाहर ही न निकलें, क्योंकि आप समझें कि पेंटिंग घर में लटकी है, तो सूरज घर में लटका है, बाहर जाने की जरूरत क्या है। घर में तो सूरज लटका हुआ है और आप उसी पेंटिंग से उलझे रह जायँ और सूरज को कभी न जान पायें। सिम्बल ने अब तक तो 'कम्युनिकेट' किया नहीं, लेकिन 'हिंड्रेंस' डाल ली। गीता पकड़े बैठे हैं। वह सूरज घर का किताब वाला सूरज है। वह घर बैठा कुरान पकड़े बैठा है। कोई महावीर को, कोई बुद्ध को पकड़े बैठा है। यह सब लोग थे, क्योंकि महावीर हमारे लिए क्या हैं, सिर्फ सिम्बल। जो वह बोले, वही रह गया हमारे पास। कृष्ण हमारे लिए क्या हैं, वह जो बोले, अगर कृष्ण का बोला हुआ खो जाय

तो कृष्ण खो जायेंगे। न मालूम कितने महापुरुष खो गये जो कि नहीं बोले, या बोले और फिर नहीं पकड़ा जा सका, तो खो गये। सिम्बल पकड़ जाता है यानी जिन्होंने कोशिश की थी उन्होंने तो चाहा था कि इस प्रतीक के द्वारा आपको कुछ कह देंगे और कठिनाई ऐसी हो गयी कि अगर आज वह मुर्दा हैं, कहीं वापस लौट सकें तो पहला काम यह करेंगे कि आपसे धार्मिक ग्रन्थ-शास्त्र कैसे छुड़ा लें! क्योंकि सोचा तो, कुछ कह देंगे और कुछ कह तो नहीं पाये और ये लोग जा सकते थे खुद भी खोजने, तो यह भी नहीं गये, क्योंकि उन्होंने समझा कि हमारे पास तो उपलब्ध हो गयी है किताब।

कला असफल हो गयी है, दर्शन असफल हो गया है, शास्त्र असफल हो गये हैं, गुरु असफल हो गये हैं और असफलता का कारण यह है कि सत्य को प्रतीक कभी बनाया ही नहीं जा सकता। सत्य, सत्य है और आपको जानना है, तो आपको आमने-सामने खड़ा होना पड़ेगा। बीच में प्रतीक लाने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन कम्युनिकेशन में प्रतीक आ जाते हैं, इसलिए 'कम्युनिकेशन' और 'रियलाइजेशन' अलग-अलग बातें हैं। कम्युनिकेशन एक काम भर अगर कर दे जो मेरी समझ है। आप मुझसे पूछ सकते हैं कि फिर मैं क्यों मेहनत कर रहा हूं, जब मैं मानता हूं कि बोल के कुछ कहा नहीं जा सकता, तो फिर मैं क्यों बोल रहा हूं। तो मेरा कुल कहना इतना है कि बोलने से केवल इतनी हालत पैदा की जा सकती है कि आपको एक दिन लगे कि बोलना 'एब्सर्ड' है, बेकार है। कुछ नहीं हुआ, न बोलने से कुछ हुआ, न सुनने से कुछ हुआ। इतने 'निगेटिव' अर्थ में ही कम्युनिकेशन का उपयोग है कि हम सिर खपाते रहें, खपाते रहें, फिर आपका भी सिर पक जायेगा और मैं कहूं, बकवास बन्द और आप कहें कि चुप हो जाइए, अब मुझे कुछ नहीं सुनना है। एक घड़ी ऐसी आ जाय और घबरा जायं और आप कहें कि नहीं जाना जा सकता है, तो शायद आप घर के बाहर निकल जायं, पेंटिंग को यहीं छोड़ जायं। वहाँ सूरज है। हमारे संवाद करने, न करने का कोई सवाल ही नहीं है।

रवीन्द्रनाथ के जीवन में एक बहुत अच्छा उल्लेख है। एक रात सौन्दर्य पर एक किताब पढ़ रहे हैं। रात दो बज गये हैं, पढ़ते-पढ़ते थक गये हैं, फिर क्रोध से किताब पटक दी है, दिया बुझा दिया है और फिर खड़े होकर नाचने लगे हैं, क्योंकि जब तक वे किताब पढ़ रहे थे, तब तक उन्हें पता ही नहीं था कि बाहर पूर्णिमा की रात है और जैसे ही किताब पटकी है और दिया बुझाया है, चांद की सब

किरणें भीतर भर गयी हैं। बजरे के अंदर जहां नाव पर वे थे और चांद बाहर था जब तक दिया भीतर जल रहा था। वह भीतर आ गये तो नाचने लग गये हैं और उन्होंने कहा, मैं भी कैसा पागल था, आधी रात गंवा दी, किताब पढ़ता रहा जानने की कि सौन्दर्य क्या है और सौन्दर्य बाहर खड़ा ही था और वह पूरे वक्त दरवाजे पर ठोकर दे रहा था कि तुम दिये को बुझाओ, तुम किताब बन्द करो, तो मैं आ जाऊं; लेकिन अब मुझे मिलने का उपाय नहीं। अगर मैं रवीन्द्रनाथ को मिल सकता, तो उनसे कहता कि हो सकता था कि सांझ आप सो गये होते और चांद फिर भी बाहर खड़ा रहता। आधी रात तक किताब पढ़ने में कम से कम एक विपरीत हालत पैदा की कि सब बेकार है, इससे कुछ समझ में नहीं आता। किताब पटक सके आप तो ही देख सके चांद। किताब तो नहीं बता सकी कि सौन्दर्य क्या है; लेकिन किताब को पटकना एक स्थिति है मन की, जिसके बिना हो सकता है सौन्दर्य न जाना जा सकता। यानी मैं यह कह रहा हूं कि दर्शन का एक ही उपयोग है कि वह इतना परेशान कर डाले कि एक दिन आप किताब पटक सकें। उस थकी-मांदी, सर्वहारा दशा में जब कोई मार्ग नहीं, कोई दिशा नहीं, कोई आशा नहीं तब शायद आपकी आंख उसको देख ले, जो है। वह तो है ही, उससे कोई सवाल नहीं। अगर मेरे कम्युनिकेट करने पर उसका होना निर्भर होता तो कोई खतरा था, यानी मेरे संवादित करने पर उसके होने में कोई फर्क नहीं पड़ता, वह है ही। खतरा तब है, जब कि हम ऐसा समझ कर चलें कि संवाद हो जाय। संवाद एक अर्थ में असंभव है, बौद्धिक संवाद तो असंभव है यानी वह असंभावना का ही नाम है। फिर क्या और कोई संवाद हो सकता है—और कोई संवाद नहीं और क्या संवाद करियेगा? हम चुप बैठ सकते हैं, लेकिन जब हम चुप बैठेंगे तो मेरे और आपके बीच बात नहीं होगी। जब हम चुप बैठेंगे तो मेरी भी जो रियलिटी है उससे बात होगी और आपकी भी रियलिटी से बात होगी। अगर इसको मैं ऐसा कहूं कि शब्द जो हैं वह हमें एक दूसरे की तरफ अभिमुख कर देते हैं, मौन जो है वह हमें सत्याभिमुख कर देता है। जब हम बातचीत करते होते हैं तो आप मेरी तरफ देखते हैं और मैं आपकी तरफ देखता हूं कि दोनों आपस में उलझे हुए हैं। जब शब्द बीच से खो जाते हैं तो न मैं आपकी तरफ देखता हूं और न आप मेरी तरफ देखते हैं, तब मजबूरी जो है उसको हमें देखना पड़ता है। एक घड़ी आनी चाहिए जिन्दगी में जब

सब व्यर्थ हो जाय। मगर यह आयेगी नहीं जब तक शब्द के साथ श्रम न चले, व्यायाम न चले।

प्रश्न : सत्य का स्वभाव है सच्चिदानन्द। ऐसा विवेकानन्द जी ने भी कहा है। वह सत्य नहीं है जिसमें सत् चित् आनन्द न हो।

भगवान श्री :

सत्य की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह हमारी आकांक्षा की परिभाषा है, सत्य की नहीं। हमारी आकांक्षा है कि सत्य ऐसा हो सच्चिदानन्द हो—सत् भी हो, चित् भी हो, आनन्द भी हो—यह हमारी आकांक्षा है। यह आदमी की आकांक्षा है कि सत् दुख न हो, नहीं तो मर गये। यहां संसार दुख है और सत्य भी दुख है, मोक्ष भी दुख है तो फिर हम कहां जायेंगे। तो मोक्ष ऐसा हो जहाँ दुख बिल्कुल न हो, मोक्ष ऐसा हो कि जहाँ अज्ञान बिल्कुल न हो, ज्ञान ही ज्ञान हो। मोक्ष ऐसा हो जहां अंधेरा बिल्कुल न हो, प्रकाश ही प्रकाश हो। यह सच्चिदानंद जो है यह सत्य की परिभाषा नहीं है, यह हमारी आकांक्षा और है और हमारी आकांक्षाएं हमें बड़ी प्रीतिकर लगती हैं इसलिए जिस शास्त्र में यह लिखा है उस शास्त्र को भी हम बड़ा प्रेम करेंगे और अगर विवेकानंद यह कहेंगे तो वह भी बड़े गुरू हो जायेंगे। उसका कुल कारण इतना है कि हमारी आकांक्षाओं को तृप्ति मिल रही है। अगर कोई गुरू आये और कहे कि सत्य बड़ा दुखद है और एकदम अंधकारपूर्ण है और अज्ञान ही अज्ञान है तो आप कहेंगे कि आपकी क्या जरूरत है। आप यहां कैसे? हम तो काफी अज्ञान झेल रहे हैं, काफी दुख झेल रहे हैं और मोक्ष में भी यही होगा, तो फिर तो कोई उपाय नहीं। हमारी आकांक्षाएं हैं ऐसी कि आत्मा अमर है, कभी न मरें, हमें सुख ही सुख हो, दुख न हो। लेकिन सत्य की यह परिभाषा नहीं है। मेरी तो अपनी समझ यह है कि जहाँ आनन्द होगा वहां दुख के भी बड़े नये आयाम होंगे, होने ही चाहिए। अभी जिस दुख को हम जानते हैं वह बहुत छिछला है क्योंकि जिस सुख को जानते हैं वह भी बड़ा छिछला है। असल में इनकी मात्रा बराबर होती है। जिस दिन आनंद इतना गहरा होगा कि रोयां रोयां कंप जायेगा, इस भूल में मत पड़ना कि उस दिन दुख भी उतना गहरा नहीं होगा, उस दिन दुख भी उतना ही गहरा होगा कि रोयां रोयां कंप जायगा। हमारी संवेदनशीलता बराबर बढ़ती है। एक आदमी को अगर सौन्दर्य का बहुत बोध हो तो उसे कुरूपता का भी उतना ही बोध हो

जाता है। यह असंभव है कि एक आदमी को सौन्दर्य का ही सिर्फ बोध हो जाय और कुरूपता का बोध न हो। एक साथ ही बढ़ेगा। अगर एक आदमी को स्वच्छ रहने का बड़ा आनन्द है तो उसे अस्वच्छ होने की पीड़ा बढ़ जायेगी उसी मात्रा में। लेकिन हमारी आकांक्षा चाहती है कि ऐसी दुनिया हो जहां अंधेरा न हो, रोशनी ही रोशनी हो। हालांकि भगवान हमारी आकांक्षाएं पूरी नहीं करता नहीं तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जायं। अगर रोशनी ही रोशनी हो तो रोशनी बहुत घबराने वाली हो जाय। रोशनी में भी सुबह जो हमें सुख मालूम पड़ता है उस सुख को पाने का अर्जन भी रात के अंधेरे में ही हमने किया है और सुबह जब किसी के प्रेम में आनन्द आता है तो वह किसी की घृणा में झेले गये दुख का भी उसमें हाथ है। यह अकेला नहीं है। सत्य तो इतना बड़ा होगा कि उसमें दुख भी होगा, आनन्द भी होगा, अंधेरा भी होगा और प्रकाश भी होगा और उसमें परमात्मा भी होगा और शैतान भी होगा। सत्य तो चूंकि पूरे को घेरेगा, उसमें अमरता भी होगी तो उसमें मृत्यु भी होगी, उसमें पूर्ण मृत्यु भी होगी। सत्य तो सब घेर लेगा जो है और हम जो हैं, पूरे को नहीं देखना चाहते हैं क्योंकि हम खुद ही घबराते हैं कि पूरा दिखायी न पड़े, क्योंकि पूरा दिखायी पड़ने का बड़ा एक और ही मतलब होगा।

अभी मैं बात कर रहा था। कोई आया तो मैंने उससे कहा कि आ जाओ। किसी ने पूछा कि आप दोनों बातें एक साथ कह रहे हैं—आओ भी और जाओ भी। तो मैंने उसको कहा कि जिन्दगी में तो दोनों साथ ही हैं, जहाँ आना है वहाँ जाना जुड़ा हुआ है। आने का मतलब ही है जाने की शुरुआत और जवान होने का मतलब है बूढ़ा होना और जन्म लेने का मतलब है मरने की तैयारी। पूरे सत्य को अगर हम देखने जायेंगे तो उसमें सब है अपनी पूर्णता में लेकिन हमारी न तो उतनी हिम्मत है कि हम उतनी पूर्णता को देख सकें, हम तो काटकर च्वाइस करेंगे। तो वह जो परिभाषाएं हैं वे सब हमारे चुनाव हैं, हमारी आकाँक्षाएं हैं। अब ऋषि कहते हैं कि हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। अब इसमें ऋषि भगवान के खिलाफ बड़ी शिकायत कर रहा है। वह यह कह रहा है कि अंधकार क्यों? प्रकाश ही चाहिए। यानी वह कह रहा है कि तुमने बड़ी भूल की जो अंधकार दिया। सिर्फ प्रकाश चाहिए, मुझे तो प्रकाश की ओर ले चलो। सत्य तो अंधकार भी है और प्रकाश भी। वह जीवन भी है और मृत्यु भी, ये दोनों जो हमें विरोधी लगते हैं जब

हमें एक ही चीज के छोर दिखायी पड़ेंगे तभी हम जान पायेंगे कि क्या है और जब हम ऐसे विरोध को एक साथ जान पायेंगे तो हमारे चित्त के सब खण्ड विदा हो जायेंगे, फिर हमारी कोई आकांक्षा न रह जायेगी क्योंकि आकाँक्षा का कोई मतलब नहीं। फिर अंधेरा होगा तो हम जानेंगे कि यह प्रकाश के आने की तैयारी है और प्रकाश होगा तो हम जानेंगे कि यह अंधेरे की तैयारी है और दुख होगा तो हम जानेंगे कि आस पास कहीं सुख है और सुख होगा तो हम जानेंगे कि तैयार रहो, दुख आता है। वह हमारी तैयारी होगी और हम जानेंगे कि यह जीवन है, लेकिन अभिलाषाएं सुख देती हैं बहुत और धर्म के नाम पर बहुत कुछ तो हमारी मनोवांछाएं हैं, इच्छाएं हैं जो चलती हैं और दुखी हैं, पीड़ित हैं।

बर्टेन्ड रसल ने एक बहुत बढ़िया बात कही है। उसने कहा है कि अगर दुनिया में सच में सुख हो जाय तो धर्मगुरुओं का क्या होगा? क्योंकि दुखी लोग सुख की तलाश में निकलते हैं। अगर सच में दुनिया सुखी हो जाय तो कौन सुख, कभी आपने भी ख्याल किया है कि जब आप किसी क्षण में आनंद में होते हैं तो न तो क्यों उठता है कि दुनिया क्यों है, मैं क्यों पैदा हुआ, यह भगवान ने क्यों बनाया है इसको? नर्क है कि स्वर्ग है कि नहीं। कुछ क्यों नहीं उठता। जब आप आनंद में होते हैं तो सब स्वीकार होता है जो है वह है। उसके होने में जरा भी कोई कहीं जरा सा प्रश्न भी नहीं लगाता। लेकिन जब आप दुख में होते हैं तब सब प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं और जब प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं तो उत्तर चाहिए। तो जो उत्तर हमारे मन में अनुकूल होते हैं उनको हम धर्म बना लेते हैं, सच्चे उत्तर का धर्म नहीं बन पाता, मनोनुकूल उत्तर का धर्म बन जाता है। और सच्चा उत्तर जरूरी नहीं कि मनोनुकूल हो क्योंकि आवश्यक नहीं है कि आपके मन के अनुकूल सत्य चलता हो। हां, सत्य के अनुकूल आप चाहें तो चल सकते हैं लेकिन सत्य को कोई बंधन आपके अनुकूल चलने का नहीं है लेकिन मनोनुकूल उत्तर धर्म बन जाता है। जो उत्तर हमारे मन को भा जाता है और लगता है कि ठीक है, हमारी तृप्ति कर दी। हमारा प्रश्न हमसे हल होता है। मैं नहीं कहता कि इन बातों में कुछ रस है और विवेकानंद की बात आपको अच्छी लगती है वह इसलिए नहीं कि सच है, वह इसलिए कि आपके मन के अनुकूल है। अनुकूल नहीं है तो अच्छी नहीं लगती है।

प्रश्न : क्या जीवन में केवल सुख ही सुख नहीं चाहा जा सकता?

भगवान श्री :

यह हमने कल्पना कर ली है। लेकिन हमारी कल्पनाओं से कुछ हल नहीं होता है और हम कितने ही चाहें कि हम सुख-सुख को ही वरण कर लें और दुख को इन्कार कर दें, हम यह समझ ही नहीं पा रहे हैं कि सुख को वरण करने में दुख हुआ जा रहा है और ऐसे जैसे एक सिक्का है और मैं उसका एक पहलू फेंक देना चाहता हूं। अब मैं पागल हो जाऊंगा, क्योंकि मैंने एक ऐसा काम शुरू किया है जो पूरा हो नहीं सकता है। एक हिस्सा फेंक देना चाहता हूं एक सिक्के का और एक हिस्सा बचा लेना चाहता हूं। अब ज्यादा से ज्यादा इतना ही हो सकता है कि जिस हिस्से को मैं बचा लेना चाहता हूं उसे ऊपर कर लूं और जिसे फेंक देना चाहता हूं उसे नीचे कर लूं। बस इससे ज्यादा कोई सफलता नहीं मिल सकती लेकिन कितनी देर ऊपर नीचे करूंगा। जिसको मैंने नीचे किया है उससे थोड़ी देर में मैं ऊब जाऊंगा क्योंकि तब तक उसे देखता रहूंगा और बड़े मजे की बात है कि दुख कभी उतना उबाने वाला नहीं होता है जितना सुख उबाने वाला हो जाता है। असल में दुखी आदमी कभी बोर नहीं होता सिर्फ सुखी आदमी बोर होते हैं। बोरडम जो है वह सुखी आदमी का गुण धर्म है। इसलिए आप हैरान होंगे कि जितना जो दुखी होता है उतनी आत्महत्या कम होती है। लेकिन कम परेशान नजर आते हैं, कम चिन्ता घेरती है, क्योंकि दुखी आदमी को बोर होने की फुर्सत नहीं है। वह अपने काम में लगा हुआ है। बदलने में लगा हुआ है कि सिक्का को उल्टा कर लें। लेकिन जब सिक्का उलटा हो जायगा तब क्या करियेगा। एक दफा दुख को नीचे दबा दिया और सुख को ऊपर कर लिया, फिर क्या करियेगा और अब अगर सिक्के को उलटाया तो नीचे दुख है। तो जैसे ही एक आदमी सुखी हुआ कि उसकी मुसीबत शुरू हो गयी। देवताओं को अगर दुनिया में कोई दुख होगा तो बोरडम का होगा। मोक्ष में भी अगर कोई दुख होगा तो बोरडम का तो होगा और बोरडम इतनी हो गयी होगी कि मैं नहीं समझता कि मोक्ष में अब कोई एक भी बचा होगा, सब भाग गये होंगे। उनकी बोरडम की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि जहाँ सुख बिल्कुल उपलब्ध हो वहां करियेगा क्या। वह तो दुख से लड़ने में रस है, सुख मिलता नहीं, उसको पाने की आकांक्षा में सारा मजा है और जब मिल जाता है तो थोड़ी देर बाद हम पाते हैं कि अब क्या करें। तब आप हैरान होंगे कि सुखी आदमी अपने हाथ से दुख भी खोजने लगता है। तो वह ऐसी तरकीबें करता है

जिनसे अब दुख आये।

एक फकीर हुआ नसरुद्दीन। उसकी कहानी कहता रहता हूं। वह एक गाँव के बाहर बैठा हुआ है। साँझ का वक्त है, अंधेरी रात है और एक आदमी आकर घोड़े से उतरा है। उस आदमी ने नसरुद्दीन के सामने एक बहुत बड़ी थैली रख दी और कहा कि इसमें करोड़ों के हीरे जवाहरात हैं और मैं इसे किसी को भी देने को तैयार हूं, मुझे जरा सा सुख मिल जाय। मैं गांव गाँव खोज रहा हूं, मुझे सुख नहीं मिल रहा है। मैं एकदम परेशान हो गया हूं, मैं मर जाऊं या क्या करूं? सब है मेरे पास, एक सुख नहीं है। तो किसी ने मुझसे कहा, एक फकीर है नसरुद्दीन उसके पास चले जाओ। तुम्हीं हो? मैं तुम्हारे पास आया हूं? फकीर खड़ा हो गया और उसने कहा कि मैं ही हूं। उसने कहा, तू सुख चाहता है? उस आदमी ने कहा, सुख चाहिए, सब खोने को तैयार हूं, एक क्षण के लिए भी सुख मिल जाय। उस फकीर ने इतनी बात पूछी और वह थैली लेकर फकीर भाग गया। वह आदमी चिल्लाया कि यह क्या कर रहे हो? मैं तो सोचता था तुम ब्रम्हज्ञानी हो, लेकिन जब वह नहीं रुका तो वह आदमी उसके पीछे भागा। गांव फकीर का तो जाना माना था। वह गली कूचे चक्कर देने लगा। गांव इकट्ठा हो गया है। वह चिल्ला रहा है कि मुझे लूट लिया, मैं मर गया, मेरी जिन्दगी खराब हो गयी। मेरी जिन्दगी भर की कमाई है उस थैली में और यह आदमी चोर निकला। यह ब्रम्हवादी नहीं है, इसे पकड़ो और मुझे बचाओ। मैं मरा। सारे गांव के चक्कर लगाकर फकीर उस जगह वापस आ गया और उसने थैली पटक दी और झाड़ के पास खड़ा हो गया। वह अमीर आदमी आया, उसने थैली छाती से लगायी और कहा, हे भगवान, धन्यवाद। उस फकीर ने कहा, कुछ सुख मिला? यह भी एक रास्ता है सुख पाने का। अब तुम्हारे लिए यही रास्ता बचा है। तुम्हारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, क्योंकि तुम क्या करोगे।

हम जो चाहते हैं, सुख ही सुख बच जाय, वह संभव नहीं है। अगर बच भी गया तो सुख भी दुख देने लगेगा। तब जिसको मैं कहता हूं, जो जीवन को उसकी सचाई में देखता है, आकांक्षाओं में नहीं। दो रास्ते हैं। एक तो मैं आकांक्षाओं से जीवन को देखने जाऊं। जब मैं कहता हूं, सुख ही सुख चाहिए तब मैं जीवन की फिक्र नहीं कर रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं, मुझे चाहिए, लेकिन मैं यह नहीं पूछता कि जीवन में मेरी फिक्र है कुछ। मैं नहीं था और जीवन था और मैं रहूंगा, जीवन रहेगा और रत्ती भर कहीं कोई पत्ता नहीं हिलेगा, कोई लहर नहीं

कंपेगी। कहीं कुछ भी नहीं होगा। मेरे होने न होने से जीवन को क्या फिक्र है। मैं इधर दो क्षण के लिए हूं तो कहता हूं, ऐसा चाहिए, ऐसा चाहिए। जब मैं यह देखता हूं कि मैं नहीं था और सब था और मैं नहीं रहूंगा, सब होगा तब उचित है कि मैं कहूं कि क्या होना चाहिए। तो जब मैं देखूंगा कि क्या है तब मुझे पता चलेगा कि दुख और सुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और जब दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तो किसको बचाना और किसको छोड़ना। जब मैं राजी हूं, सुख आया तो सुख के लिए, दुख आये तो दुख के लिए और यह जो राजी होना है यह जो ऐक्सेप्टेबिल्टी है यह एक ऐसे आनंद में उतार देती है जिसका हमें कुछ भी पता नहीं है। वह आनंद दुख विरोधी नहीं है, वह आनंद दुख में भी रहेगा, वह आनंद सुख का पर्यायवाची नहीं है क्योंकि सुख चला जायगा तब भी वह रहेगा। उसको आनंद शब्द कहने से भी थोड़ी भूल हो जाती है इसलिए जो और थोड़ी समझपूर्वक बुद्धि का प्रयोग किया तो बुद्ध ने आनंद का उपयोग नहीं किया, शांति का उपयोग किया क्योंकि आनंद में कहीं न कहीं सुख का ख्याल है। हम कितने ही उसको बचाने की कोशिश करें, आनंद में कहीं न कहीं सुख का भाव है। एक शांत मन रह जाता है—सुख हो या दुख हो, और वह तभी रह सकता है जब दोनों एक से स्वीकार हो गये हैं क्योंकि दोनों हैं और स्वीकार करने की चेष्टा हमें नहीं करनी है। मतलब अस्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं है, यह हमें दिखायी पड़ जाय तो बात खत्म हो गयी! लेकिन हम आकांक्षाएं आरोपित कर रहे हैं इसलिए हमने इस तरह के धर्म खड़े कर लिए हैं, गुरू भी खड़े कर लिए हैं जो हमारी आकांक्षाओं की तृप्ति के रास्ते बता रहे हैं। वे हमसे कहते हैं कि हम परम आनंद में पहुंचा देंगे, हम पहुंचाने की कोशिश करते हैं। हम कभी पूछते भी नहीं कि होने की आकांक्षा ही दुखी आदमी का लक्षण है और दुखी आदमी कैसे परम आनंदित हो सकता है? मंत्र पढ़ने से? इतनी सस्ती तरकीब काम कर सकती है कि परम आनंद मिल जाय, कि हम सोचते हैं कि परम आनंद मिल जायगा उपवास करने से, कि रात खाना न खाने से, सिगरेट न पीने, कि चाय न पीने से परम आनंद मिल जायगा। अगर इतना ही फासला है तो दुखी और परम आनंदित आदमी में कोई फर्क नहीं है, सिगरेट पान आदि का फर्क है, ऐसा कमजोरी का फर्क है कि कोई हिम्मत का आदमी जाना नहीं चाहेगा। वह सस्ता सा फर्क मोक्ष में और पृथ्वी पर अगर है कि मोक्ष में

लोग सिगरेट नहीं पीते, चाय नहीं पीते और सिनेमा नहीं देखते। इतना ही अगर फर्क है तो कौन मोक्ष जाना चाहेगा, इसका कोई मतलब नहीं रह गया। फर्क कुछ ज्यादा रेडिकल होना चाहिए। यह कोई फर्क ही नहीं होगा। फर्क का मतलब है कि हम जहां हैं उसमें हमारी दो तरह की जिन्दगी हो सकती है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाली और यथार्थ को स्वीकार करने वाली। बस दो तरह की जिन्दगी होती है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाला आदमी है और यथार्थ को स्वीकार करने वाला है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाला चाहे, कुछ भी करे, दुख में रहेगा। ऐसा नहीं है कि जो आकांक्षाओं को आरोपित नहीं करता उसको दुख नहीं आयेगा। यह मैं नहीं कह रहा हूं। दुख तो आयेंगे लेकिन वह दुख में नहीं रहेगा।

आकांक्षा है ही। हम क्या कर रहे हैं? हम उनको भी नहीं देख रहे हैं। उनके अनुकूल जगत को देखने की कोशिश में लगे हैं। आकांक्षाएं तो रियलिटी का हिस्सा हैं। वह तो यथार्थ है कि मुझमें है और मुझमें है और मुझमें इच्छा है कि मैं अमर रहूं, यह मुझे जानना चाहिए लेकिन बजाय इसके जानने के मैं वह शास्त्र पकड़ लूंगा जिसमें लिखा है कि हां अमर रहना है, पक्का है और जो हमारे पक्ष में है वह अमर रह जायेंगे, जो हमारे पक्ष में नहीं हैं वह मर जायेंगे। मैं यह कह रहा हूं कि आदमी दुखी है इसलिए सुख खोजना चाहता है और चूंकि सुख खोजता ही रहेगा और कभी यह न देखेगा कि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इसलिए कितना ही सुख खोजें दुखी रहेंगे और सुख खोजते रहेंगे। जो कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि मूलतः उसको दिखायी नहीं पड़ रहा है कि सुख की खोज नहीं है। एक बुनियादी भूल हो रही है। वह भूल यह हो रही है कि वह दुख को अस्वीकार करके सुख को खोज रहा है, जबकि सुख दुख का ही हिस्सा है—यानी मैं जन्म खोज रहा हूं और मरना नहीं चाहता, जवानी खोज रहा हूं और बूढ़ा नहीं होना चाहता, तो बड़ी मुश्किल बात है। जवान होना चाह रहा हूं तो बूढ़ा होना उसका हिस्सा ही होगा, वह उतरती हुई जवानी का नाम है। पूर आ गया तो उतरेगा ही, सुबह हो गयी तो सांझ होगी। अब सुबह तो मैं खोज रहा हूं और सांझ से बचना चाहता हूं और जब मैंने सुबह खोजी तभी मैंने सांझ का इन्तजाम कर दिया, अब सांझ होगी। अब अगर मैं सिर्फ सुबह को ही खोजूं तो फिर शाम को दुख होगा और रात भर फिर सुबह की खोज करूंगा, फिर सुबह आयेगी

और फिर सांझ की तैयारी शुरू होगी, मैं फिर दुखी होऊंगा और मजा यह है कि न तो आपकी खोज से सुबह आ रही है, न सांझ हो रही है। सुबह अपने आप आ रही है, सांझ अपने से आ रही है। आपकी जो परेशानी है वह यह है कि एक पर आप आरोप लगा रहे हैं कि बस यही रह जाय और एक को आप कह रहे हैं कि यह न हो और उनको दोनों से आपसे कोई मतलब नहीं है कि आप हो या नहीं हो, वह होते रहेंगे।

जिन्दगी में सुख और दुख घूम रहे हैं, सब घूम रहा है। आप उसमें जब चुनाव करने लगते हैं कि हम यह चुनकर रहेंगे तब आपने दुख शुरू कर दिया, वह दुख का रास्ता हो गया। जब दुखी हो गये तब और जोर से सुख खोजेंगे और जितने जोर से सुख खोजेंगे उतने जोर से दुखी होंगे। तब एक वीसियस सर्किल है जिससे बचाव मुश्किल हो जायगा, इसको देखना पड़ेगा और हमारी क्या तकलीफ है कि अगर हम पूछते भी हैं कि हम दुखी क्यों हैं तो हम कुछ कारण खोज लेना चाहते हैं दुख के। हमने कोई बुरा काम किया होगा इसलिए दुखी हैं, कि हमने कुछ पाप किया होगा इसलिए दुखी हैं। दूसरा आदमी सुखी है उसने कोई पुण्य किया होगा। सुखी और दुखी होना न तो पुण्य और पाप से सबंधित है, सुखी और दुखी होना हमारी आकांक्षाओं के आरोपण से संबंधित है, कितने जोर से आरोपित करने की आकांक्षा में रहे लेकिन किसी दिन डिसइलूजनमेंट आता है। पता चलता है कि कुछ आरोपण से नहीं होता है—सुबह आती है और आती है, सांझ आती है और आती है। तब भी सुबह आयेगी कुछ ऐसा नहीं है कि नहीं आयेगी, तब भी सांझ आयेगी लेकिन दंश चला जायगा पीड़ा चली जायगी और तब जितनी सुबह ठीक से जी ली है, कोई कारण नहीं कि सांझ ठीक से क्यों न जी लें। मामला यह है कि ठीक से जिसने सुबह को पूरी तरह जी लिया है वह तो खुद ही दोपहर होते-होते कहेंगे कि अब सांझ हो जाय। जो आदमी ठीक से जवान रह लिया है, उसके भीतर बुढ़ापे की आकांक्षा आ जायेगी। जो आदमी ठीक से जी लिया है वह मरना भी चाहता है।

नीत्से ने बहुत अच्छी बात कही है। उसने कहा है कि जब फल पक जाता है तो गिरना चाहता है। एक दफे पक भर जाय और जब फल पक जाता है तो गिरना ही चाहता है। सिर्फ कच्चे फल घबराते हैं कि कहीं गिर न जायं और चूंकि हम जिन्दगी भर कच्चे रह जाते हैं इसलिए मरने से डरते हैं। अब इस तरह चक्कर पर चक्कर पैदा होते चले जाते हैं। मरने से डरते हैं तो उस सिद्धांत को

पकड़ते हैं जो कह दे कि मरोगे नहीं। मैं नहीं कह रहा हूं कि मर जायेंगे आप। मैं यह कह रहा हूं कि हम अपनी आकांक्षाएं आरोपित न करके जो है उसे जानने की फिक्र कर लें तो बात पूरी हो जायगी नहीं तो नहीं पूरी होगी।

प्रश्न : व्यक्ति के तल पर तो यह ठीक है कि हम स्वीकार कर लें, लेकिन समाज के तल पर कैसे स्वीकार लें ?

भगवान श्री :

गरीबी है, बीमारी है, दुख है, शोषण है उस सबमें भी स्वीकार कर लें। यह बहुत बढ़िया बात है और मैं इधर जितना सोचता हूं, बहुत अजीब अनुभव करता हूं। पहली बात तो यह है कि यह कंट्राडिक्टरी दिखायी पड़ेगा लेकिन ऐसा है ? **जो व्यक्ति स्वयं के तल पर सुख-दुख को स्वीकार नहीं करता वह समाज के तल पर सब बीमारियों को स्वीकार करने वाला होता है। जैसे हमारा मुल्क** है। हमने व्यक्ति के तल पर सुख-दुख कभी स्वीकार नहीं किया है। हम मोक्ष की खोज निरंतर कर रहे हैं जहां सुख-दुख से छुटकारा हो जाय लेकिन समाज के तल पर हमने सब स्वीकार कर लिया है। अगर यह बात दिखायी पड़े तो इससे उलटा भी सत्य है कि **जो व्यक्ति स्वयं के तल पर सब स्वीकार कर लेगा वह समाज के तल पर तो कुछ स्वीकार नहीं करेगा।** जो स्वयं के तल पर सब स्वीकार कर लेगा वही क्रांतिकारी हो सकता है क्योंकि क्रांतिकारी होने में भी दुख झेलने की संभावना है निरंतर, क्योंकि क्रांति का सुख तो किसी और को मिलेगा। क्रांति का सुख क्रांतिकारी को तो मिलता नहीं। तो क्रांति सिर्फ वही कर सकता है जो दुख को स्वीकार कर सकता है। जब एक व्यक्ति सब तरह के सुख-दुख में जैसा है वैसा स्वीकार कर लेता है तो चेष्टा नहीं करनी पड़ती है उसे कि वह समाज के तल पर अस्वीकार करे। न उस व्यक्ति का सहज वर्तन यह हो जाता है कि समाज के तल पर वह स्वीकार नहीं कर सकता है। यानी मैं यह नहीं कह रहा हूं कि वह स्वीकार नहीं करेगा या नहीं करना चाहिये, न ऐसा वर्तन हो जाता है। जो व्यक्ति स्वयं के तल पर टोटल एक्सप्टेबिलिटी में जीता है वह समाज के तल पर टोटल रिजेक्शन में जीता है और जो व्यक्ति समाज के तल पर स्वीकार में जीता है वह अपने तल पर रिजेक्शन में जीता है, और जो अपने तल पर कहता है, मैं यह दुख में हूं, यह नहीं सुनूंगा, यह नहीं करूंगा, वह समाज के तल पर सब स्वीकार कर लेता है। उसका कारण है कि जो व्यक्ति, व्यक्ति के लिए सब कुछ करने की चिन्ता में रत

रहता है उसके लिए समाज का बोध ही पैदा नहीं होता है, यानी समाज की जो धारणा है, कांसेसनेस है वह उसको पैदा होती है जो व्यक्ति के तल पर लिपट गया यानी अब इधर कुछ करने का मामला बचा नहीं, इधर बात खत्म हो गयी, इधर मैंने मान लिया है कि जो है, है। तब मैं क्या करूंगा, आखिर मैं कुछ तो करूंगा। व्यक्ति के तल पर तो करने से मुक्त हो गये। तो वह जो सृजन की, निर्माण की, विध्वंस की ऊर्जा जो भी है मेरे पास वह जायेगी कहां, वह कहीं सक्रिय हो जायेगी। व्यक्ति के केन्द्र पर जहां ऊर्जा का काम समाप्त हो गया है वहां वह समाज के चारों तरफ फैलकर काम में लग जाती है। ऐसा नहीं है कि वह लगाता है, यह मैं नहीं कह रहा हूं। हां, इट हैपन्स और अगर सारी ऊर्जा इसी में लगी हुई हो कि मेरा अगला जन्म कैसे शुद्ध रहे और मैं स्वर्ग कैसे जाऊं, मैं पुण्य कैसे करूं और मैं पाप से कैसे बचूं और यह खाऊं कि न खाऊं, यह पिऊं कि न पिऊं। अगर सारी चेतना यहां उलझी है तो समाज की तो धारणा ही पैदा नहीं होगी। तो हमें पता भी नहीं चलता है कि हमारे अलावा भी कोई है। जो कौम, जो व्यक्ति, जो समाज ऐसा व्यक्तिवादी होगा वह तो यहां तक कहेगा कि न तो तुम्हारी कोई पत्नी है, न तुम्हारी कोई मां है, न तुम्हारा कोई पिता है, न कोई भाई है, न कोई बेटा है, यह सब भ्रम है। हो तो तुम्हीं सब सत्य, बाकी सब भ्रम है, सब माया है। इससे तुम बचो, इसके तुम चक्कर में मत पड़ जाना। न कोई मौत में साथ देंगे, न कोई पुण्य में साथ देंगे, न पाप में साथ देंगे। तुम अकेले हो निपट, अपनी फिक्र करो। इसकी भी फिक्र मत करना कि औरत अगर भूखी मर रही हो तो मर रही है, वह अपने पिछले जन्म का पाप का फल भोग रही है। तुम्हारा क्या लेना-देना है। तुम्हारा बच्चा अगर सड़क पर भीख मांग रहा है तो मांग रहा होगा क्योंकि उसको मांगनी पड़ेगी, उसके अपने कर्म फल हैं, तुम अपनी फिक्र करो। यह जो व्यक्तिवादी दृष्टि थी अगर कोई सब स्वीकार कर ले तो व्यक्ति रह ही नहीं जाता। अगर गौर करें वह जो ईगो है व्यक्ति की वह पैदा होती है रेजिस्टेंस से। वह जितना मैं लड़ता है, यह नहीं चाहिए और यह चाहिए इसी के संघर्ष में मेरा मैं पैदा होता है कि मैं हूं। च्वाइस मैं पैदा करती है, च्वाइसलेस इगो नहीं हो सकती है। फिर वह बचने का उपाय नहीं रह जाती है। मैं हूं, इसका क्या मतलब है। सुबह सूरज निकलता है, सांझ ढलता है। मैं कहां हूं। यानी मैं कहता हूं सुबह ही होनी चाहिए

और सांझ नहीं। आठ दस घंटे तो सूरज को ढलने में लगेंगे। आठ दस घंटे मैं अपने मैं को मजबूत करूंगा कि अभी तक नहीं ढलने दिया, अभी तक सूरज को रोके हुए हूं, अभी तक सुबह है। जब ढल जायगा तब मैं सोचूंगा जरूर कि पिछले जन्मों का कर्मों का फल बाधा डाल रहा है—और सूरज अपने आप ढल रहा है और अपने आप ऊग रहा है। उससे कुछ लेना देना नहीं है। इधर मेरी इगो मजबूत होती चली जायगी लेकिन जब मैंने मान लिया कि ऐसा हो रहा है तब अचानक मेरी सारी ऊर्जा और सारी शक्ति चारों तरफ फैलकर काम करने में लग जाती है। यानी मेरी दृष्टि में क्रांतिकारी पैदा होता है सर्व स्वीकार से और उल्टा लगता है क्योंकि क्रांतिकारी निषेध करता है। और जिन्दगी के दो हिस्से हैं जिसको हम विधायक और निषेध, निगेटिव और पोजीटिव कहें। अगर मैं अपने तईं पोजीटिव हूं तो समाज की तरफ निगेटिव रहूंगा क्योंकि वह दूसरा हिस्सा है, क्योंकि अगर मैं अपनी तरफ निगेटिव हो गया तो समाज की तरफ पोजीटिव हो जाऊंगा। वह मेरा दूसरा हिस्सा है, मैं कहीं एक हिस्सा रहूंगा। अगर समाज को अच्छा करना हो तो व्यक्ति के तल पर स्वीकृति होनी चाहिए और समाज को अगर सड़ाना हो तो व्यक्ति के तल पर अस्वीकृति होनी चाहिए इसलिए मेरी बात में निरंतर विरोध रहता है। मुझे कई लोग आकर कहते हैं कि आप सुबह के ध्यान में सिखाते हैं सब स्वीकार कर लो और सांझ की सभा में कहते हैं कि सब अस्वीकार कर लो। अब मैं क्या करूं? सुबह सूरज ऊगता है, सांझ ढलता है, इसमें मैं क्या कर सकता हूं। अब सूरज से हम नहीं कहते कभी जाकर कि सुबह ऊगते हो, सांझ ही ढलते हो। विरोध है दोनों में। सुबह ऊगते हो तो सांझ ढलते क्यों हो? नहीं, सुबह मैं यही कहता हूं कि स्वीकार कर लो, सांझ यही कहता हूं कि अस्वीकार कर लो। वह दोनों ही जिन्दगी के हिस्से हैं।

एक और सवाल किसी ने पूछा है, इसको आखिरी मान लें। पूछा है, मानव आज रुग्ण है और मैं यह मानता हूं कि जब मनुष्य पैदा हुआ था करोड़ों वर्ष पहले तब आदमी अवश्य ही स्वस्थ रहा होगा। तब फिर मनुष्य का वह कौन सा अचेतन मन है जिसने बीमारी के जंतुओं को आने दिया और वह जंतु और वह बीज कौन से हैं जिसने मनुष्य को अमानवीयता की शुरुआत होने दी। ऐसी सब कल्पनाएं हैं। असल में कई करोड़ों वर्ष पहले आदमी सुखी था ऐसे ख्याल में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है और कोई आदमी को दुखी होना अनिवार्य

है ऐसी भी कोई बात नहीं है। कुछ लोग समझ लेते हैं, वे सदा सुखी हैं इस अर्थ में कि वे दुख को भी स्वीकार कर लेते हैं। जो नहीं समझते हैं वे सदा दुखी हैं इस अर्थ में कि वे दुख के अस्वीकार में ही दुखी होते चले जाते हैं। और ऐसा नहीं है कभी कि सारी मनुष्यता सुखी थी और सारी मनुष्यता कभी दुखी हो गयी है। और ऐसा भी नहीं है कि कभी स्वीकार था और अब सब अस्वीकार हो गया है। ऐसा कभी नहीं था। हर युग की अपनी बीमारियां होती हैं, अपने दुख होते हैं। बदल जाते हैं। नये युग नयी बीमारियां पैदा कर लेते हैं, नये दुख पैदा कर लेते हैं लेकिन सदा दुख है, सदा बीमारी है, सदा परेशानी है और सदा रहेगी। हम लड़ते रहेंगे और एक तरफ से बचायेंगे और दूसरी तरफ से पैदा हो जायगा। अभी लुइचसा व वैज्ञानिकों ने इतनी मेहनत की, अब अगर लुइचसा लौट आये तो शायद घबरा जायगा, क्योंकि उसने आदमी को बचाने की कोशिश की कि बच्चे मर न जायें। अब बच्चे ज्यादा हो गये हैं, अब उन्हें पैदा न होने दें और पैदा हो जायं तो उनको मारने का उपाय करें। तो भ्रूण हत्या के लिए और गर्भपात के लिए विचार करना पड़ता है और कोई आश्चर्य नहीं है कि अगर संख्या बढ़ती चली जाय तो जिस तरह हम जन्म निरोध की बात कर रहे हैं उस तरह हम एक उम्र के बाद बूढ़े आदमी को मारने के लिए मजबूर करेंगे, यह दूसरा हिस्सा है उसका। यह होगा। अगर यह रुकता है मामला, अगर हम बच्चों को नहीं रोक पाते हैं, नहीं रोक पा रहे हैं तो दूसरा उपाय एक ही है कि जैसे हम अट्ठावन में पचपन की आयु में रिटायर करते हैं, हम सत्तर साल में कहेंगे कि जीवन से सब रिटायर हो जायें, क्योंकि बच्चे आये चले जा रहे हैं और अब कोई बचाव का उपाय नहीं है। अब वैज्ञानिक, जिसने कि बीमारियां बचायीं और दस बच्चों में से आठ बच्चे मर जाते थे उनको बचा लिया, अब बड़ी झंझट की बात हो गयी। अब कौन कहे कि वह ठीक हुआ क्योंकि अब हमको आठ मारने पड़ेंगे या रोकने पड़ेंगे या कुछ करना पड़ेगा। इधर से हम इन्तजाम करते हैं, उधर से कुछ बिखर जाता है, यानी मेरा मानना यह है कि पूर्ण इन्तजाम कभी नहीं हो सकता क्योंकि पूर्ण इन्तजाम का कोई मतलब ही नहीं हो सकता। हम हमेशा ही एक तरफ इन्तजाम करते हैं, दूसरी तरफ ठीक उसके विपरीत चीज खड़ी हो जाती है क्योंकि जीवन जो है वह सदा विपरीत को पैदा कर लेता है इसलिए संतुलन में, अगर तौल हम कभी खोज सकें तो बराबर इतना ही रहेगी जितनी कभी थी। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। यानी यह हो सकता

है कि एक आदमी के पास आज फिएट कार है और आज से हजार साल पहले उसके बाप के पास बैलगाड़ी थी। बगल वाले के पास एक रथ था, अभी बगल वाले के पास एक इम्पाला है। दोनों का फासला उतना ही है जितना बैलगाड़ी और रथ का था, जितना फिएट और इम्पाला का है। वह जो अनुपात है वह उतना का उतना ही खड़ा है। रथ वाले को देखकर जितना बैलगाड़ी वाला दुखी होता था उतना इम्पाला वाले को देखकर फिएट वाला दुखी होता है। इम्पाला आ गयी, बैलगाड़ी हट गयी है, रथ हट गया है, लेकिन वह जो मामला है वह अपनी जगह खड़ा है। अनुपात वही है और अनुपात में बड़ी भूल हो जाती है। आपके पास दस रुपये हैं और मेरे पास सौ रुपये हैं तो आप गरीब हैं और मैं अमीर हूं। कल आपके पास सौ हो जाते हैं, मेरे पास हजार हो जाता है, फासला उतना ही होता चला जाता है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरी अपनी समझ यह है कि जिन्दगी जैसी सदा थी वैसी ही है, उसके रूप बदलते हैं, आकार बदलते हैं। सब मामला वैसे ही हैं। उस सारे मामले में इतना ही फर्क पड़ सकता है कि कोई व्यक्ति इसको स्वीकार करे या अस्वीकार करे—और उस दिन भी वही था और आज भी वही है। उस दिन जो बैलगाड़ी वाला था अगर उसने स्वीकार कर लिया होता कि अच्छा है कि तुम्हारे पास रथ है, हमारे पास बैलगाड़ी और चल पड़ा होता अपनी बैलगाड़ी में तो जितना सुखी हो जाता, उतनी आज फिएट वाला इम्पाला वाले को देखकर, कि अच्छा तुम्हारे पास इम्पाला है, हमारे पास फिएट है, चल पड़ता है, उतना ही वही रस उपलब्ध हो जायेगा जो उसको हुआ था वह उसको उपलब्ध हो जायगा। जिन्दगी वैसी ही है, सदा वैसी है। रुख क्या हम लेते हैं इस पर निर्भर करता है और दो तरह के रुख हैं जैसा मैंने कहा—एक तो है कि हम निरंतर आकाँक्षाओं को आरोपित करते चले जायें और एक है कि जो है उसे हम जान लें, उसे हम पहचान लें, हम देख लें। और जैसे ही हम उसको देखते हैं, अनिवार्यरूपेण उसकी स्वीकृति हो जाती है क्योंकि सवाल ही नहीं इसको अस्वीकार करने का। ऐसे स्वीकृत उपलब्ध व्यक्ति को ही मैं धार्मिक कहता हूं और जब इतनी स्वीकृति होती है तो शांति अपने आप भर जाती है और उस शांति में हम बहुत कुछ देख पाते हैं जो हमने अशांति में कभी भी नहीं देखा था। और पहली बात आपको दोहरा दूं अंत में कि उस शांति में जो हमें दिखायी पड़ता है वह कम्युनिकेबल नहीं है, उसको कहा नहीं जा जकता।

उस शांति में हम कुछ जानते हैं जो कि शब्द में नहीं बंधता है। तो तड़प सकते हैं, परेशान हो सकते हैं, चिल्ला सकते हैं मगर उससे कुछ होता नहीं। हां इतना ही हो सकता है शायद हमारी तड़प को, पीड़ा को समझने की कोशिश को कोई पकड़ के सोचे जरूर इस आदमी ने कुछ देखा है। जैसे एक गूंगा आदमी आ जाय और हमारे में चिल्लाने लगे, जोर से हाथ पैर पटकने लगे और बताने लगे तो हमें कुछ समझ में तो न आये लेकिन इतना समझ में आ जाय कि इस आदमी को कुछ हुआ है और अगर हाथ पकड़ के बताने लगे बाहर या कहीं ले जाने लगे तो शायद हम सोचें चलो देख लें, इस आदमी ने कुछ देखा है। कुछ कम्युनिकेट तो वह नहीं कर पाये लेकिन इतना कम्युनिकेट कर दे कि कम्युनिकेट नहीं कर पा रहा हूं और कुछ है। बस इतना अगर हो जाय तो शायद हम चले जायं, इतनी ही मेरी चेष्टा है। उससे ज्यादा मेरा भरोसा नहीं है। यानी मैं शब्द का विश्वासी नहीं हूं, संवाद का विश्वासी नहीं हूं, बुद्धि का विश्वासी नहीं हूं लेकिन मेरे साथ दिक्कत इसलिए होती है कि मैं दिन रात तो समझाता हूं कि विचार करो, बिना विचार के मत मानो, विश्वास मत करो और फिर मैं कहता हूं कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूं और मैं यह सब इसलिए कहता हूं कि इसको थका डालो बुद्धि को, खूब सोच लो, खूब तर्क कर लो, आरगू कर लो और यह थक जाय। एक दफे यह थक जाय और गिर जाय, तुम इसके बाहर हो जाओ, सांप की केंचुल की तरह पड़ी रह जाय और सांप बाहर निकल जाय और यह निकलेगी नहीं अगर विश्वास कर लिया क्योंकि वह फटेगी नहीं। यह निकलेगी नहीं अगर किसी को आस्था कर लें तो। क्योंकि यह थकेगी नहीं यह निकलेगी नहीं अगर आस्था कर लिया तो क्योंकि इसका थकना जरूरी है इसके निकल जाने के लिए। एक तो वह विश्वास है जो हम बुद्धि का बिना उपयोग किये ही पकड़ लेते हैं। वह बिलो इन्टलेक्ट है और एक वह श्रद्धा है जो बुद्धि के थकान पर उपलब्ध होती है बियोन्ड इन्टलेक्ट है और दोनों बिल्कुल अलग बातें हैं मगर दोनों एक सी मालूम पड़ सकती हैं। इसलिए कभी कभी महाज्ञानी महामूढ़ मालूम पड़ सकता है इसमें कोई ऐसी कठिनाई नहीं क्योंकि वह दोनों छोर हैं, एक बुद्धि के नीचे है, एक बुद्धि के पार है।

●

● क्या विचारों के पार अस्तित्व के जगत में, शून्य में होने की कोई व्यवहारिक प्रक्रिया है ?

भगवान श्री :

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विचारों का क्रम सदा चलता रहता है लेकिन विचार अपने में तब तक शक्तिहीन हैं, जब तक कि मेरा उन्हें सहयोग न मिले, जब तक कि मैं उनको शक्ति न दूं। इसलिए अभ्यास केवल इतना ही करना है कि विचार को मैं अपनी तरफ से शक्ति न दूं, वे आयें तो आने दें; जायें तो जाने दें। आप विचार के साथ किसी तरह का तादात्म्य, किसी तरह की मैत्री कायम न करें। इतना ही होश रखें कि मैं केवल देखने वाला भर हूं। ये आयें और जायें। आप धीरे-धीरे पायेंगे कि जो विचार आयेगा, उसे आपने कोई भी सहयोग नहीं दिया, वह बिल्कुल निष्प्राण होकर मर जायेगा। और इस तरह सतत प्रयोग करने पर अचानक आप पायेंगे कि उसका आना भी बन्द हो गया है। इसी साक्षी के माध्यम से हमारे भीतर जो विचार संगृहीत हैं, उनकी भी निर्जरा हो जायेगी। वे आयेंगे, उठेंगे, पूरे रूप से खड़े होंगे लेकिन हम अगर चुप रहें और कोई सहयोग न दें तो सिवाय इसके कि वे विसर्जित हो जायें, उनका और कोई रास्ता नहीं है। कितनी ही चिन्ता पकड़ती हुई मालूम हो, चुपचाप देखते रहें। यह भाव मत करिये कि मैं चिन्तित हो रहा हूं। क्योंकि तब सहयोग शुरू हो जायेगा। केवल इतना ही भाव करिये कि मैं देख रहा हूं कि चिन्ता है। मैं चिन्तित हूं यह तो ख्याल ही मत करिये। यह विचार तो, फिर सहयोग हो गया। असहयोग का अर्थ है कि मैं—

> एक भेद मानकर चल रहा हूं चिन्ता में और अपने में, विचार में और अपने में जो हो रहा है उसमें और मैं जो देख रहा हूं उसमें एक भेद मान रहा हूं। इसी भेद को साधते चले जाना है कि जो भी मेरे भीतर हो रहा है उससे मैं भिन्न हूं।

जो भी मुझसे बाहर हो रहा है उससे मैं भिन्न हूं। इस बोध को साधते चले जाना है। एक सीमा आयेगी कि जो जो, जिस जिस से मैं भिन्न हूं वह वह विलीन हो जायेगा और अन्ततः केवल वही शेष रह जायेगा जिससे

में अभिन्न हूं। भिन्न के विलीन हो जाने से जो अभिन्न है वह शेष रह जायेगा।—

> उसी शेष सत्ता का जो अनुभव है वही स्व-अनुभव है।

तो उससे किसी तरह का तादात्म्य न करें, किसी तरह का सम्बन्ध न जोड़ें।

वस्तुतः दो ही स्थितियां हैं— पहली तो यह है कि हम देख रहे हैं और कुछ दीख रहा है और दूसरी है कि हम देख रहे हैं और कुछ नहीं दीख रहा है। अभी हम जब भी देखेंगे भीतर तो कुछ दिखायी पड़ेगा। कुछ दिखायी पड़ेगा– वही विचार है। किन्तु एक सीमा आयेगी देखते-देखते कि हम देखते रहेंगे और कुछ दिखायी नहीं पड़ेगा।—

> जब कुछ नहीं दिखायी पड़ेगा तब जो अनुभूति होगी, वह विचार की न होकर चैतन्य की होगी क्योंकि अब तो वहां कुछ भी दिखायी नहीं पड़ रहा। जब कुछ दिखायी नहीं पड़ रहा—तो देखने की जो क्षमता है, वह जो ज्ञान की शक्ति है, वह जो अभी तक किसी किसी को देखती रही थी, अब चूंकि वहां कोई भी नहीं है कि जिसको देखें, इसलिए सिवाय अपने को देखने के इसके पास और कोई मार्ग नहीं रह जायेगा।

हमारे पास जो ज्ञान है उस ज्ञान से उसके आब्जेक्ट छीन लेने हैं, ताकि उसके पास देखने को कुछ न रह जाये। जब उसके पास देखने को कुछ न रह जायेगा तब भी देखने की क्षमता तो रहेगी। और जब कुछ देखने को नहीं रहेगा तो वह देखने की क्षमता किसे देखेगी? उस अंतिम क्षण में, जब चैतन्य देखने को कुछ नहीं पाता है तो अपने को देखता है। इसी अपने को देखने को आत्मज्ञान कहते हैं।

अतः एक ही साधना है कि हम किसी तरह से अपनी चेतना के जो लक्ष्य, जो कण्टेंट हैं, कांशसनेस से उनको छीनते चले जायें, उनको विरल करते चले जायें। उन्हें विलीन करते चले जायं। एक सीमा आयेगी कि कण्टेंट कुछ नहीं होगा, केवल कांशसनेस होगी। जब तक कण्टेंट कुछ है तब तक कांशसनेस दूसरे की है। मगर जब कण्टेंट कुछ नहीं होगा तब कांशसनेस—सेल्फ कांशसनेस हो जायेगी। जब तक हम किसी को देख रहे हैं तब तक अपने को नहीं देख रहे हैं। जब हमें कुछ भी देखने को शेष नहीं रह जायेगा तब जिसको हम देखेंगे वह हम स्वयं हैं।—

> इतनी साधना है कि हम चेतना के सामने से उसके सारे विषय, जिन-जिन पर चेतना रुकती और ठहर जाती है और जिनकी वजह से अपने पर नहीं लौट पाती है, इनको धीरे-धीरे क्षीण कर दें।

क्षीण करने का रास्ता है कि हम असहयोग करें। अभी हम उनके बनाने वाले हैं, यानी हमीं उनको बनाये हुए हैं। जब खाली बैठते हैं तो कुछ न कुछ विचार चल रहे हैं। जो विचार चल रहे हैं वे अचानक थोड़े ही चल रहे हैं, हम ही उनको चला रहे हैं। क्योंकि हमारे बिना सहयोग के वे चल नहीं सकते हैं। जो-जो विचार चल रहे हैं, उनसे सहयोग को खींच लें और कुछ न करें, बस इसी को सामायिक, इसी को ध्यान समझें। अगर सारे विचार विलीन हो जायें तो आपमें कोई इगो, और कोई व्यक्ति नहीं मालूम होगा। आपको मालूम होगा केवल होना। केवल बीइंग मालूम होगा, जिसमें यह भेद मालूम नहीं होगा कि मैं व्यक्ति हूं या समष्टि हूं। केवल होना मात्र रह जायेगा। प्योर एक्जीस्टेंस मात्र होगा। वास्तव में—

> उस प्योर एक्जीस्टेंस में जो विचार हमारे इकट्ठे हैं उन विचारों के कारण हम एक व्यक्ति मालूम होते हैं।

यह जो हमें लगता है कि मैं अ हूं, आप ब हैं, आप स हैं। यह जो 'अ' 'ब' 'स' हमने चिपकाया हुआ है, यह हमारी विचार-शक्ति है। प्रायः हम कहते हैं कि "मैं मुक्त हो जाऊंगा", यह बात बहुत ठीक नहीं है। "मैं मुक्त हो जाऊंगा", इससे तो यह धारणा है कि मुक्त होकर भी 'मैं' रहूंगा यानी 'मैं' की तरह। यह बात नहीं है। "मैं", की मुक्ति "मैं", से भी मुक्ति है। जो शेष रह जायेगा उसमें इस "मैं", जैसी चीज को खोज पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह "मैं", जो था यह जो अहंकार था, यह जो बोध था व्यक्ति होने का वह उन्हीं विचारों के इकट्ठे गूंज होने की वजह से था। उन्हीं विचारों का इकट्ठे रूप का नाम मैं था। जब विचार खिसक जायेंगे तो मैं भी खिसक जायेगा।

एक बौद्ध भिक्षु हुआ है नागसेन। वह बड़ा अद्भुत भिक्षु हुआ और बड़ी मीठी कथा है। नीनांगन नाम के यूनानी सेनापति ने, जिसको सिकंदर भारत छोड़ गया था, नागसेन को आमंत्रण दिया राज-दरबार मे; चर्चा करने को। वह बड़ा उत्सुक था धार्मिक चर्चा में। स्वागत के लिए

लोग पहुंचे गांव के बाहर और नाग-सेन भिक्षु को रथ पर लेकर आये। पांच सौ भिक्षु और साथ थे। महल के बाहर आकर नीनांगन ने नमस्कार किया नागसेन को। नागसेन रथ से उतरा। नीनांगन ने कहा, "नागसेन भिक्षु का हम स्वागत करते हैं।" उस नागसेन ने कहा, "हम स्वागत को स्वीकार करते हैं, यद्यपि भिक्षु नाग-सेन जैसा कोई है नहीं।" नीनांगन बोला—यह क्या कहते हैं? फिर स्वीकार कौन करता है? नागसेन ने कहा—कामचलाऊ है ताकि आपको बुरा न लगे, लेकिन सच ही भिक्षु नागसेन जैसा कोई नहीं है। नीनांगन ने कहा—फिर यह कौन आया? आप आये, आप मेरे सामने खड़े हैं, आप कौन हैं? तो उसने एक बहुत अद्-भुत बात कही। उसने कहा—यह जो रथ है, यह रथ है न? नीनांगन ने कहा—निश्चित ही रथ है। तो उसने कहा—इसके पहियों को निकाल कर अगर तुमसे पूछें कि यह रथ है, तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे, यह रथ नहीं है ये पहिये हैं। हम एक-एक हिस्सा इसका निकाल कर तुमसे पूछें कि यह क्या है, तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे कि ये पहिये हैं, यह आगे का डण्डा है, यह पीछे का डण्डा है, फलां है, ढिकां है। सारे रथ के अंग हम निकाल लेंगे, तो किसी को भी रथ नहीं कहते, तो फिर रथ कहां है? रथ केवल जोड़ है। अगर सारे अंग खींच लिए जायं तो जोड़ नहीं बच रहेगा। रथ केवल जोड़ है। नागसेन ने कहा कि जैसे रथ जोड़ है वैसे ही यह नागसेन नाम का जो व्यक्ति है, यह केवल जोड़ है। इसके हट जाने पर नागसेन नहीं रह जायेगा। जो रह जायेगा उसको नागसेन कहना कठिन है।

जैनों ने इसको अहंकार विसर्जन कहा। अहंकार विसर्जन और आत्म-उपलब्धि कहा। वह आत्मा जो है वह व्यक्ति नहीं है, अहंकार नहीं है। बौद्धों ने इसे अनात्म भी कह दिया। उन्होंने कहा, वह आत्मा ही नहीं है। कुछ फर्क नहीं है दोनों में। जो शेष रह जाता है उसको मैं की सत्ता का संस्कार देना नासमझी है।

जैसे-जैसे मैं अपने भीतर चलता हूं वैसे-वैसे 'मैं' विलीन होता चला जाता है। यह समझने जैसी बात है। जैसे-जैसे मैं बाहर चलता हूं, 'मैं' सघन होता चला जाता है। वह जो 'मैं' है, एक्सटेंशन होता चला जाता है। जैसे-जैसे भीतर चलियेगा, 'मैं' जो है विरल होता चलेगा। जो आदमी अपने से जितना बाहर चला गया है उतना उसका मैं मजबूत पाइ-येगा और जो आदमी अपने जितने

भीतर चला गया है उतना ही उसमें 'मैं' नहीं पाइयेगा। और हम जो बाहर चलते हैं, अगर बहुत गौर से देखें तो उसको 'मैं' को ही मजबूत होने का सुख है, और कोई सुख नहीं है। वे जो बड़ा भवन खड़ा कर लेते हैं उसमें सुख लेते हैं, वे जो बड़ा राज्य जीत लेते हैं, उसमें सुख लेते हैं, वे जो बड़ा धन इकट्ठा कर लेते हैं, वे जो बड़े पण्डित या बड़े साधु बन जाते हैं उसमें भी सुख लेते हैं। वह सब 'मैं' का सुख है। जितना हम इस तरह की चीजें इकट्ठे करते हैं उतना 'मैं' जो है, भर जाता है। और वजनी हो जाता है। कुछ मालूम होने लगता है। क्योंकि फिर हम कह पाते हैं कि 'मैं'! मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूं। 'मैं' उतना ही ज्यादा ठोस और वजनी हो जाता है। दुनिया में दो ही दौड़ें हैं और दो ही तरह के आदमी हैं—एक दौड़ है कि 'मैं' को मजबूत करो, और एक दौड़ है कि 'मैं' को विसर्जित करो। एक तरह का आदमी है जो उस दिशा में चल रहा है जहां और घना 'मैं' होता चला जायेगा। जितना घना मैं होगा, आत्मा से उतनी ही दूरी हो जायेगी। जितना प्रगाढ़ 'मैं' का बोध होगा उतने ही हम आत्मा से फासले पर चले जायेंगे। यानी अगर ठीक से समझें तो मैं की प्रगाढ़ता आत्मा से दूरी नापने का यन्त्र है। और जितना मैं विरल होता चला जायेगा उतना ही वह अपने करीब आने लगेगा। और जिस क्षण हम बिल्कुल अपने में आयेंगे, हम पायेंगे 'मैं' नहीं है।

यानी वास्तविक 'मैं' को पाते ही, जिसको हम 'मैं' करके जानते रहे हैं वह नहीं रह जायेगा।

●

● सारे लोग चित्त-शांति की दिशा में जाने लगेंगे, तो कर्मठता नहीं खो जावेगी?

दुनिया में जो तकलीफ है वह अगर सारे लोग चित्त शांति को उपलब्ध हो जायें तो समस्या विलीन हो जायेगी और कर्म बेहतर ही होगा। क्योंकि चित्त शांत व्यक्ति जितना बेहतर कर्म कर सकता है, एक अशांत और विक्षिप्त आदमी नहीं कर सकता।—

शांति का कर्म से विरोध नहीं है। अशांति का कर्म से विरोध है। अशांत आदमी जो भी कर्म करेगा, वह अकुशल होगा। क्योंकि

अशांति उसके कर्म में बाधक होगी।

शांत आदमी जो भी कर्म करेगा वह उसमें कुशल हो जायेगा क्योंकि शांति कर्म में सहयोगी है। तो मेरी दृष्टि में अगर दुनिया में शांत लोग बढ़ते हैं तो दुनिया की कुशलता बढ़ेगी। जैसे कबीर था, कपड़े बुनता रहा। तो कबीर के बाबत् कहा जाता रहा कि वैसे कपड़े कभी किसी बुनकर ने नहीं बुने और जब वह अपने कपड़े को लेकर बाजार में वेचने जाता था तो लोग पागल की तरह टूट पड़ते थे। कबीर का कपड़ा खरीदना ही सुख की बात है। कबीर से लोग कहते हैं कि ऐसे कपड़े कभी किसी ने बुने नहीं, तो कबीर कहता, इतनी शांति से भगवान के लिए कपड़े किसी ने नहीं बुने, मैं क्या करूँ ? मैं तुम्हारे लिए नहीं बुनता, भगवान के लिए बुनता हूं। क्योंकि तुम्हारे भीतर जो भगवान है मैं उसको जानता हूं, वह पहनेगा और उसके लिए तो कोई गलत चीज बुनी नहीं जा सकती और जब बुनता हूं तो भगवान में भरा हुआ बुनता हूं। तो भूल-चूक की तो गुन्जाइश नहीं है। तो कबीर ने जो कपड़े बुने थे वे कपड़े अर्थ रखते हैं और ही तरह का। एक गोरा कुम्हार हुआ, वह भी एक फकीर था। उसने जो घड़े बनाये अद्भुत थे। दुनिया में अब तक जो भी काम श्रेयष्कर हुआ है वह शांत लोगों ने किया है, अशांत लोगों ने नहीं। अशांत लोगों की वजह से परेशानियां हैं, उनकी वजह से श्रेष्ठ कर्म नहीं होता। शांत लोगों की वजह से होगा। इतना ही स्मरण रखिये कि यह जो हमारे चित्त में धारणा घर कर गयी है शांत लोग छोड़कर भाग खड़े होते हैं यह गलत है। अशांत लोग भाग खड़े होते हैं, अशांति में घबराहट में। शांत लोग तो फिर वापस लौट आते हैं। महावीर और बुद्ध जंगल में भाग गये थे, तब वे अशांत थे। जब वे शांत हुए तो वापस लौट आये। अभी तक ऐसे किसी आदमी के बाबत सुना है जो शांत होकर वापस बस्ती में नहीं लौट आया है। अशांत आदमी बस्ती से बाहर गया जंगल में। लेकिन जब वह शांत हुआ तो वापस बस्ती में लौट आया। और उसके बाद की जिन्दगी, कोई खाली हाथ बैठे थोड़े ही रहे। महावीर अपनी उपलब्धि के बाद चालीस वर्ष तक सतत सक्रिय हैं। बुद्ध मरते क्षण तक सक्रिय हैं, मर रहे हैं जिस घड़ी बुद्ध, अंतिम घड़ी है और उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि अब तो मैं छोड़ता हूं देह। तो आनन्द ने कहा, अब हम किसी को आने नहीं देंगे। अब हम बाहर रुकते हैं, अब कोई आये नहीं। वह समाधि

में लीन हो रहे हैं और तभी दूर से भागता हुआ एक युवक आया। और उसने आकर आनन्द से कहा कि फिर तथागत मुझे कहां मिलेंगे, अगर यह घड़ी मैं चूकता हूं। मुझे अन्दर जाने दें। मुझे तो उनसे वचन सुन लेना है जो मेरे जीवन को बदल दें। लेकिन आनन्द ने कहा—अब तो बहुत देर हो गयी। उसका नाम था सुभद्र, उससे कहा—सुभद्र, अब बहुत देर हो गयी। अब तो वे लीन हो रहे हैं। अब तो वे एक चरण नीचे उतर गये। अब तो वे देह को छोड़ रहे हैं, घड़ी भर में देह छूट जायेगी। लेकिन सुभद्र बोला—तुम तो ठीक कह रहे हो, लेकिन फिर मुझे कब किस जन्म में ऐसा आदमी मिलेगा ? तो बुद्ध ने अन्दर से कहा—सुभद्र को रोको मत, उसे अन्दर आने दो, कोई यह न कहे कि तथागत पर एक पाप कलंक रह गया। कलंक रह जाये कि सुभद्र खड़ा कहता था कि मैं प्यासा हूं, मुझे दो और उन्होंने नहीं दिया। थोड़ी घड़ी भर रुक सकता हूं। सुभद्र को अन्दर आने दो। मरते समय भी बुद्ध सुभद्र को समझा रहे हैं कि शांति और आनन्द कैसे पाये जा सकते हैं।

बुद्ध की मृत्यु का कारण था एक गरीब लोहार। उसने बुद्ध को भोजन के लिए आमंत्रित किया अपने घर। बिहार में कुकुरमुत्ते जो वर्षा में ऊग आते हैं, उनको सुखाकर रख लेते हैं गरीब लोग सब्जी बनाने के लिए। तो उस गरीब लोहार ने कुकुरमुत्ते की सब्जी बनायी और बुद्ध को खिला दी। उनमें कभी-कभी जहर होता है। उस जहर से बुद्ध को शरीर में पीड़ा व्याप्त हुई। जब वे अपने आवास पर लौटे तो उन्होंने देखा कि शरीर में विष व्याप्त हो रहा है। तो उन्होंने कहा कि—जाओ, उस लोहार को कहना, कि तू अत्यन्त धन्यभागी है कि तथागत ने अंतिम अन्न तेरा ग्रहण किया। ऐसा सौभाग्य बहुत मुश्किल से उपलब्ध होता है। इसलिए जाकर कहो कि कहीं लोग मेरे मरने के बाद उसे जाकर परेशान न करें कि इसका भोजन खाने के कारण मेरी मृत्यु हो गई। उसको जाकर कहो और सारे गांव में यह ढिंढोरा पीट दो कि वह आदमी अत्यन्त धन्यभागी है कि तथागत ने अंतिम अन्न उसका ग्रहण किया। ऐसा सौभाग्य कल्पों में कभी किसी को मिलता है।

यह शान्त आदमी का लक्षण है जो अपने मरने के बाद भी किसी को परेशान नहीं करना चाहता। इसको अपनी मौत की परेशानी नहीं है। यह आदमी मर रहा है उसकी चीज खाकर किन्तु इसको परेशानी इसकी है कि मेरे मरने के बाद कहीं लोग

उसको परेशान न करें कि तुम्हारे भोजन से उसकी मौत हो गयी। अशांत आदमी दूसरी तरह की व्यवस्था करता है।

मैंने एक कहानी पढ़ी है कि एक वृद्ध आदमी मर रहा है। उसके सात जवान लड़के थे, उसने उन सबको बुलाया। और उनसे कहा कि मुझे एक खास बात कहनी है। अगर तुम वायदा करो तो मैं कहूं। बड़े लड़के तो कोई उठे नहीं, छोटा लड़का नासमझ था, वह उठकर उसके पास गया। बाप ने उसके कान में कहा कि मेरी एक ही प्रार्थना है, इतना तू कर देना, मैं तो मर ही रहा हूं। मर जाऊं तो मेरी लाश के टुकड़े बगल वाले के घर में डाल देना। तो जब मैं पकड़े हुए पड़ोसी को राजा के कर्मचारी द्वारा जेल में ले जाते देखूंगा, जब मेरी आत्मा उसको देखेगी तो मैं बड़ा परितृप्त हो जाऊंगा। मैं तो मर ही रहा हूं, उसकी सजा हो जायगी।

अशांति चारों ओर अशांति को पैदा करती है। शांति चारों तरफ शांति को पैदा करती है। शांत मनुष्य से इस जगत का कोई अहित असंभव है। हित ही हो सकता है। अशांत आदमी से इस जगत का कोई हित असंभव है। अहित ही हो सकता है।

तो मुझे धार्मिक साधना जगत की विरोधी नहीं दिखायी पड़ती। धार्मिक साधना में ही जगत का हित और साध्य दिखायी पड़ता है। कर्मठता कम हुई है, अशांति से शायद। शायद शांति हो तो कर्म श्रेष्ट हो जायें। शांत लोग सब कुछ व्यवस्थित कर सकेंगे।